शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
Vol. 9, Issue 4, pp (1-9), Month: Dec. 2018

दीनदयाल उपाध्याय व प्रजातंत्र

डा० मनमीत कौर

एसो0 प्रोफे0, राजनीतिविज्ञान विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली, उ0प0,भारत ।

Email : rishipuri23@gmail.com

सारांश

दीनदयाल उपाध्याय एक भारतीय विचारक, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, इतिहासकार और पत्रकार थे, उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष भी बने, उन्होंने ब्रिटिश शासन के दौरान भारत द्वारा पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता और पश्चिमी लोकतंत्र का आँख बंद कर समर्थन का विरोध किया, यद्यपि उन्होंने लोकतंत्र की अवधारणा को सरलता से स्वीकार कर लिया, लेकिन पश्चिमी कुलीनतंत्र, शोषण और पूँजीवादी मानने से साफ इन्कार कर दिया था, उन्होंने अपना जीवन लोकतंत्र को शक्तिशाली बनाने में लगा दिया।

दीनदयाल उपाध्याय की अवधारणा थी कि आजादी के बाद भारत का विकास का आधार अपनी भारतीय संस्कृति हो न कि अंग्रेजों द्वारा छोड़ी गयी पश्चिमी विचारधारा, जबकि भारत में लोकतंत्र आजादी के तुरन्त बाद स्थापित कर दिया गया था, परन्तु दीनदयाल उपाध्याय के मन में यह आशंका थी कि लम्बे वर्षों की गुलामी के बाद भारत ऐसा नहीं कर पायेगा उनका विचार था कि लोकतंत्र भारत का जन्मसिद्ध अधिकार है, न कि पष्चिम ाक उपहार, वे इस बात पर भी बल दिया करते थे कि कर्मचारियों और मजदूरों को भी सरकार की शिकायतों के समाधान पर ध्यान देना चाहिए, उनका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति का सम्मान करना प्रशासन का कर्त्तव्य होना चाहिए, उनके अनुसार लोकतंत्र अपनी सीमाओं से परे नहीं जाना चाहिए और जनता की राय उनके विश्वास और धर्म के आलोक में सुनिश्चित करना चाहिए।

दीनदयाल उपाध्याय का प्रजातंत्र विषयक विचार प्रजातंत्र की पाश्चात्य भारतीय अवधारणा से प्रारंभ होकर उसके भारतीय प्रजातंत्र के विश्लेषण के साथ पूर्ण होता है।

प्रस्तावना

दीनदयाल उपाध्याय ने प्रजातंत्र की अवधारणा को उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। हालाँकि आजादी के तुरंत बाद जब लोकतंत्र की स्थापना व वयस्क मताधिकार की संवैधानिक व्यवस्था हुई, भारतीय जन की दीर्घकालीन गुलामी, अशिक्षा व गरीबी के कारण वे एकदम दिए गए वयस्क मताधिकार के बारे में कुछ शंकित थे; लेकिन बहुत जल्दी वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि सहभागिता का अवसर ही शिक्षा का भी सबसे बड़ा माध्यम है। अतः वे वयस्क मताधिकार के प्रबल पक्षधर बन गए थे। उपाध्याय की मान्यता है कि लोकतंत्र भारत को पश्चिम

की देन नहीं है। भारत की राज्यावधारणा प्रकृतितः लोकतंत्रवादी है। वे लिखते हैं, 'वैदिकसभा' और 'समिति' का गठन जनतंत्रीय आधार पर ही होता था तथा मध्यकालीन अनेक गणराज्य पूर्णतः जनतंत्रीय थे। राजतंत्रीय व्यवस्था में भी हमने राजा को मर्यादाओं में जकड़ कर प्रजानुरागी ही नहीं, प्रजा (जन) अनुगामी भी माना है। इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले नृपतियों के उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं; किंतु उनके विरूद्ध जनता का विद्रोह तथा उनको आदर्श शासक न मानकर, हीनता की श्रेणी में गिनने के प्रयत्नों से ही हमारी मौलिक जनतंत्रीय भावना की पुष्टि होती है। दीनदयाल कहते हैं ''लोकतंत्र की एक व्याख्या की गई है कि वह वाद–विवाद से चलने वाला राज्य है। **'वादे वादे जायते तत्त्वबोधाः'** यह हमारे यहाँ की पुरानी उक्ति है। किंतु .... यदि दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न न करते हुए अपने ही दृष्टिकोण का आग्रह करते जाएँ तो **'वादे वादे जायते कंठशोषाः'** की उक्ति चरितार्थ होगी। वाल्टेयर ने जब कहा कि 'मैं तुम्हारी बात सत्य नहीं मानता' किंतु अपनी बात कहने के तुम्हारे अधिकार के लिए मैं पूरी शक्ति से लडूँगा' – तो उसने मनुष्य के केवल 'कंठशोषा' के अधिकार को ही स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति इससे आगे बढ़कर 'वाद–विवाद' को 'तत्त्वबोध' के साधन के रूप में देखती है।''

उपर्युक्त दोनों ही उद्धरणों में उपाध्याय ने भारतीय पक्ष का योग्य प्रस्तुतिकरण किया है; लेकिन वाल्टेयर के साथ न्याय नहीं हो सका। प्रथमतः, वाल्टेयर का प्रसिद्ध वाक्य एकदम वह नहीं है जो उपाध्याय ने संदर्भित किया है। द्वितीयतः, इस कथन का संदर्भ वाद–विवाद की महता का प्रतिपादन नहीं; वरन् 'अभिव्यक्ति–स्वातंत्र्य' की लोकतांत्रिक मानसिकता का प्रतिपादन करना है। निश्चय ही उपाध्याय वाल्टेयर से असहमत नहीं है; लेकिन यहाँ पुनः पश्चिम के खंडन की प्रवृत्ति के कारण विचारक वाल्टेयर के प्रति अन्याय हुआ। पश्चिम में प्रजातंत्र के उदय की प्रक्रिया, उसके पूँजीवाद के रूप में विकृत हो जाने एवं कार्ल मार्क्स की तानाशाहीपरक प्रतिक्रिया आदि का विवेचन करते हुए उपाध्याय कहते हैं–

''राष्ट्रवाद के बाद... दूसरी क्रांतिकारी कल्पना प्रजातंत्र की है जिसका यूरोप की राजनीति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव हुआ है। प्रारंभ में तो जितने राष्ट्र बने उनमें राजा ही शासनकर्ता रहा; किंतु राजा की निरंकुशता के विरूद्ध जनता में भी धीरे–धीरे जागरण हुआ। औद्योगिक क्रांति के कारण तथा अंतरराष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप सभी देशों में एक वैश्ववर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। स्वभावतः इनका पुराने सामंतों तथा राजाओं से संघर्ष आया। इस संशर्ष ने 'प्रजातंत्र' की तात्त्विक भूमिका ग्रहण की। यूनान के नगर–राज्यों से इस विचारधारा का उद्‌गम ढूँढ़ा गया। प्रत्येक नागरिक की समानता, बंधुता और स्वतंत्रता के आदर्श के सहारे जनसाधारण को इस तत्त्व के प्रति आकृष्ट किया गया। फ्रांस में बड़ी भारी राज्यक्रांति हुई। इंग्लैंड में भी समय–समय पर आंदोलन हुए। प्रजातंत्र की जन–मन पर पकड़ हुई। राजवंश या तो समाप्त कर दिए गए अथवा उसके अधिकार मर्यादित कर वैधानिक राजपद्धति की नींव डाली गई। आज प्रजातंत्र यूरोप की मान्य पद्धति है। जिन्होंने प्रजातंत्र की अवहेलना की, वे भी प्रजातंत्र के प्रति निष्ठा व्यक्त करने में कमी नहीं करते। हिटलर, मुसोलिनी तथा स्टालिन जैसे तानाशाहों ने भी प्रजातंत्र को अमान्य नहीं किया।'' पश्चिम में लोकतंत्र का विकास एवं आदर्शवादी लोकप्रिय अवधारणा के रूप में हुआ

था; लेकिन नवोदित वैश्यवर्ग एवं नवअनुसंधान औद्योगिक क्रांति ने उसे पूँजीवादी शोषण का औजार बना दिया। अतः उपाध्याय आगे विवेचित करते हैं–

''प्रजातंत्र ने यद्यपि प्रत्येक नागरिक को मतदान का अधिकार दिया; किंतु जिन लोगों ने प्रजातंत्र का नेतृत्व किया था, शक्ति उन्हीं के हाथ में रही। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उत्पादन की नई पद्धति का विकास हो गया था। स्वतंत्र रहकर घर में काम करने वाला श्रमिक, अब कारखानेदार का नौकर बनकर काम करने लगा था। अपना गाँव छोड़कर नगरों में आ बसा था। वहाँ उसके आवास की व्यवस्था बहुत अधूरी थी। कारखानों में जिस ढंग से काम होता था, उसके कोई नियम नहीं थे। मजदूर असंगठित और दुर्बल था। वह शोषण, उत्पीड़न व अन्याय का शिकार हो गया था। राज्य की शक्ति जिनके हाथ में थी, वे भी उसी वर्ग में से थे, जो उनका शोषण कर रहे थे। अतः राज्य से भी कोई आशा न थी।

''इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह तथा स्थिति सुधार की भावना लेकर अनेक महापुरूष खड़े हुए। उन्होंने अपने आपको समाजवादी कहा। कार्ल मार्क्स भी उन समाजवादियों में से एक हैं। उन्होंने विद्यमान अन्याय का विरोध करने के प्रयत्न में अर्थव्यवस्था तथा इतिहास का एक विश्लेषण प्रस्तुत किया। कार्ल मार्क्स की विवेचना के बाद समाजवाद एक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा हो गया। बाद के समाजवादियों ने मार्क्स को माना हो या नहीं, किंतु उनके विचारों पर उसकी गहरी छाप है।''

दीनदयाल उपाध्याय लोकतंत्र की तात्विक अवधारणा से समहत होते हुए भी, पाश्चात्य निरंकुश राजशाही की प्रतिक्रिया से उत्पन्न, पूँजीवाद से पोषित व सर्वसत्तावादी राज्यवाद की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले लोकतंत्र को, भारतीय–कृत करना चाहते हैं। लोकतंत्र का भारतीयकरण करने का उन्होंने आह्वान किया।

पश्चिम ने लोकतंत्र को निर्वाचन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया प्रदान की है। संविधानवादी कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका का सृजन किया है; लेकिन यह केवल लोकतंत्र का औपचारिक स्वरूप है। लोकतंत्र की असली आत्मा उसके स्वरूप में नहीं, वरन् जनाकांक्षा को सही रूप से प्रतिबिंबित करने की भावना में हैः ''जनतंत्र किसी बाहरी ढाँचे पर निर्भर नहीं रहता। बालिक मताधिकार तथा निर्वाचन पद्धति जनतंत्र के बहुत बड़े अंग हैं; किंतु इनसे ही जनतंत्र की स्थापना नहीं हो जाती। रूस में दोनों ही विद्यमान हैं, किंतु राजनीति विशारद उसे जनतंत्र मानने को तैयार नहीं। मताधिकार तथा निर्वाचन के साथ एक भावना भी जनतंत्र के लिए आवश्यक है। ...केवल बहुमत का शासन ही जनतंत्र नहीं है। ...ऐसे तंत्र में तो जनता का एक वर्ग सदैव ऐसा रहेगा जिसकी आवाज चाहे वह सही ही क्यों न हो, दबा दी जाएगी। जनतंत्र का यह स्वरूप 'सर्वजनसुखाय', 'सर्वजनहिताय' नहीं हो सकता। ..... अतः भारतीय जनतंत्र की कल्पना में निर्वाचन, बहुमत, अल्पमत आदि बाहरी व्यवस्थाओं के स्थान पर सभी मतों के सामंजस्य और समन्वय पर ही बल दिया गया है। विरूद्ध मत रखने वाला एक व्यक्ति ही क्यों न हो, हमें उसके मत का आदर ही नहीं, बल्कि उसका योग्य समावेश अपनी कार्यपद्धति में करना चाहिए। इंग्लैंड में, जहाँ आज की जनतंत्रीय पद्धति ने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है, विरोधी दल के नेता को

सरकारी खजाने से वेतन दिया जाता है। खेल के लिए जैसे दो दलों का होना आवश्यक है, वैसे ही संसद में दो दलों का होना आवश्यक समझा जाता है। षासन की नीतियों पर विरोधी दल सतत प्रकाष डालता रहता है।

उपाध्याय मानते हैं कि लोकमत का तात्कालिक निर्णय चाहे बहुमत से हो, लेकिन लोकमत केवल बहुमत के षासन व अल्पमतों की वैचारिक स्वतंत्रता से अपने को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इससे दलीय कटुता व समाज में अखंड कलह का निर्माण होता है, अतः लोकतंत्र न बहुमत का षासन है, न अल्पमत का; वह जनता की 'सामान्य इच्छा' का षासन है। जनता अपनी सामान्य इच्छा को औपचारिक रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाती। जब 'सामान्य इच्छा' के बारे में सामाजिक संभ्रम हो तो 'लोकतंत्र' भीड़तंत्र में बदल जाता है। वाचाल लोग उसका दुरूपयोग कर सकते हैं। उपाध्याय षेक्सपियर के नाटक 'जूलियस सीजर' का उदाहरण देते हुए कहते हैं : ''जो जनता ब्रूटस के साथ होकर जूलियस सीजर के वध पर हर्श मना रही थी, वही थोड़ी देर में एंटोनियो के भाशण के उपरांत ब्रूटस का वध करने को उद्यत हो गई। मोबोक्रेसी और आटोक्रेसी के दोनों पाटों के बीच से डेमोक्रेसी को जीवित रखना एक कठिन समस्या है।''

अतः लोकचेतना के संतुलित विकास की आवश्यकता रहती है। इसी को उपाध्याय प्राचीन भारत की 'लोकमत–परिष्कार' पद्धति कहते हैं। लोकमत–परिष्कार एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। जहाँ साम्यवादी तानाशाही देषों में सत्ता द्वारा 'ब्रेनवाषिंग' अथवा 'असहमतों के नागरिक अधिकारों से वंचन' की प्रक्रियाएँ अमानवीय हैं; वहीं तथाकथित लोकतंत्रों में इस विषय में या तो अराजकता है या सरकारी प्रचारतंत्र को इसका माध्यम बनाया जाता है। दीनदयाल के मतानुसार, ''भारत ने इस समस्या का समाधान राज्य के हाथ से लोकमत निर्माण के साधन छीन कर किया है। लोकमत–परिष्कार का कार्य है वीतराग द्वंद्वातीत संन्यासियों का। लोकमत के अनुरूप चलने का काम है राज्य का। संन्यासी सदैव धर्मतत्त्वों के अनुसार जनता के ऐहिक एंव आध्यात्मिक उत्कर्ष की कामना लेकर अपने वचनों एवं निरीह आचरण से जनजीवन के ऊपर संस्कार डालते रहते हैं। उन्हें धर्म की मर्यादाओं का ज्ञान करवाते रहते हैं। उनके समक्ष कोई लोभ और मोह न होने के कारण वे सत्य का उच्चारण सहज ही कर सकते हैं। संस्कार से ही समाज के जीवनमूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं। इन मूल्यों का बाँध रहने के बाद, लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण करके संकट का कारण नहीं बनेगी।

उपाध्याय का 'लोकमत–परिश्कार' विचार वैसा ही है जैसा कि लोकतंत्रात्मक जनचेतना के निर्माण के लिए कुछ लोगों ने पष्चिम में 'वी एज्यूकेट अवर मास्टर्स' का आंदोलन चलाया था। लोकतंत्र की सफलता के लिए जिन मनोभावों की विवेचना उपाध्याय प्रस्तुत करते हैं उनमें मुख्य हैं– (1) सहिष्णुता और संयम, (2) अनासक्त भाव तथा (3) कानून के प्रति आदर की भावना।

1. सहिष्णुता और संयम : ''जनतंत्र की भागीरथी का आद्यस्त्रोत सहिष्णुता ही है। इसके अाााव में निर्वाचन तथा संसद आदि की जनतंत्रतीय व्यवस्थाएँ प्राणहीन षरीर की भाँति है। कृ कृकृ भारतीय संस्कृति का आधार ही सहिश्णुता है। इसी से जनता जनार्दन की आत्मा का स्तर

पहचानने की शक्ति प्राप्त होती है। जीवन में सहिष्णुता को साधने के लिए संयम आवश्यक है। उपाध्याय कहते हें, 'मर्यादाओं के अंतर्गत क्रिया का नाम संयम है। भूखा मरना संयम नहीं; अपितु शरीर की आवश्यकता के अनुरूप गुण और मात्रा में भोजन करना संयम है। बिल्कुल न बोलना, यहाँ तक कि अत्याचारों के विरूद्ध आवाज भी न उठाना अथवा किसी को सत्परामर्श भी न देना, संयम नहीं। वाचाल और गूँगे के बीच संयमी पुरूष आता है, जो आवश्यकता पड़ने पर बोलता है और अवश्य बोलता है।

''असंयम और गैर–जिम्मेदारी साथ–साथ चलते हैं। लोकराज्य तभी सफल हो सकता है जब नागरिक अपनी जिम्मेदारी को समझेगा और उसका निर्वाह करने के लिए क्रियाशील रहेगा। समाज जितना यह समझता जाएगा कि राज्य चलाने की जिम्मेदारी उसकी है, उतना ही वह संयमशील बनता चला जाएगा। जिस दल को यह लगता है कि आज नहीं तो कल मेरे कंधों पर राज्य सिंहासन का भार आ सकता है, वह कभी अपने वायदों और व्यवहार में गैर–जिम्मेदार व असंयत नहीं होगा। फिर जनता के ऊपर तो राज्य चलाने की जिम्मेदारी सदैव ही रहती है। अतः जनता को दायित्ववान् व संयमशील बनाना लोकतंत्र की सफलता के लिए उसकी औपचारिक व्यवस्थाओं से भी अधिक जरूरी है।

2. अनासक्त भाव : सत्तालोलुपता, जन तथा जननेताओं को 'जनता की सामान्य इच्छा' की अवहेलना के लिए प्रेरित करती है। अतः समाज का वातावरण एवं शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि व्यक्ति 'लोलुपभाव' से नहीं वरन् अनासक्त भाव से 'लोकराज्य' के नियमन में सहभागी हो। निर्वाचन प्रक्रिया को खिलाड़ी की भावना से संयोजित करने से जहाँ समाज में अनासक्त भाव का आनंद विस्तारित होता है, वहीं 'लोलुपता' परस्पर वैमनस्य व कटुता का कारण बनती है। राम का उदाहरण देते हुए उपाध्याय प्रतिपादित करते हैं–

''जनतंत्र में सत्ता के प्रति उच्चस्तर की निरासक्ति आवश्यक है। भगवान राम की तरह जनतंत्र में राजनीतिज्ञ को आह्वान मिलने पर सत्ता स्वीकार करने और क्षति की चिंता किए बिना उसका परित्याग कर देने के लिए सदा तैयाार रहना चाहिए। एक खिलाड़ी की तरह उसे विजय के लिए संघर्ष करना चाहिए; किंतु पराजय के लिए तैयार रहना चाहिए। अगर वह पराजय को गौरव के साथ शिरोधार्य नहीं कर सकता और अपने प्रतिस्पर्धी को उसकी विजय के लिए बाधाई नहीं दे सकता तो वह जनतंत्रवादी नहीं नहीं है। यही वह भावना थी जिसके साथ चर्चिल ने एटली को और एटली ने एडेन को सत्ता सौंप दी।

यह अनासक्त भाव भी व्यक्ति में उत्तम संस्कारों के ही कारण आता है। केवल लोकतंत्र की औपचारिक व्यवस्था से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को लोकेच्छा से समरस नहीं कर लेता है। व्यक्ति को लोलुपता पर विजय पाने के लिए सत्संग, स्वाध्याय तथा संयम की आवश्यकता रहती है।

3. कानून के प्रति आदर की भावना : 'कानून का राज्य' एक राजनीतिक व्यवस्था है; लेकिन कानून का समादर नैतिक समाज की पहचान है। कानून का समादर करने वाला समाज ही 'कानून के राज्य' को ठीक से वहन करन सकता है। जहाँ सामाजिक रूप से लोगों में कानून

के प्रति समादर का भाव नहीं होता वहाँ का 'कानून' व्यक्तियों के प्रति अविश्वासी बन जाता है तथा व्यक्ति कानून की अवहेलना करने वाले बन जाते हैं। इसका स्वाभाविक परिणाम होता है समाज में 'अनैतिकता' का प्रसार। हमारे देश में बिना राजदंड का सहारा लिए लोगों में धर्मभाव के बल पर नैतिक नियमों का पालन करवाया जा सका, यह भारतीय अनुभव है। स्वस्थ लोकतंत्र में यह जरूरी है कि लोग राजदंड के भय से नहीं, वरन् अपने सामाजिक विवेक से कानून का पालन करें। उपाध्याय राजनीतिक दलों से यह आग्रह करते हैं कि वे समाज में इस प्रकार के 'लोकमत–परिष्कार' का कार्य करें तथा स्वयं के आचरण को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करें।

''जनता में कानून के प्रति समादर की भावना पैदा करने के लिए यह आवश्यक है कि कानून का संरक्षण करने की आकांक्षा रखने वाली पार्टियाँ इस दिशा में स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करें। स्वशासन की भावना और क्षमता जनतंत्र का सार है। अगर पार्टियाँ स्वयं अपने आपको शासित नहीं कर सकतीं तो वे समाज में स्वशासन की इच्छा उत्पन्न करने की आशा कैसे कर सकती हैं।''

समाज में कानून के प्रति आदर के लिए जहाँ एक लोकतांत्रिक मानसिकता की जरूरत है, वहीं यह भी जरूरी है कि कानून निर्माता जन प्रतिनिधि, विद्वज्जन तथा पत्रकार जगत समाज को कानून की तर्कसंगतता के बारे में शिक्षित करे। कानून के प्रति अपनी असहमति के इजहार के लिए भी 'कानून सम्मत' प्रक्रिया को ही लोग स्वीकार करें, समाज में ऐसा वातावरण व्याप्त रहना जरूरी है। उपाध्याय केवल अकादमिक विद्वान या दार्शनिक ही नहीं थे, वरन प्रत्यक्ष राजनीतिक क्षेत्र के कार्यकर्ता भी थे। निर्वाचन प्रक्रिया सत्ता स्पर्धा का हथियार नहीं, वरन् सामाजिक सहभागिता का माध्यम हे। उसको इसी माध्यम के नाते इस्तेमाल करने के लिए उन्होंने अच्छा उम्मीदवार, अच्छा दल तथा अच्छा मतदाता कैसा होना चाहिए– इस पर भी निर्वाचन काल में ही अपने विचार प्रकट किए हैं जो उनकी राजनेता नहीं, वरन् राजनीतिज्ञ की छवि प्रस्तुत करते हैं।

(क) अच्छा उम्मीदवार : उपाध्याय के मतानुसार कृकृ ''एक समुचित उम्मीदवार वह है जो विधानमंडलों में अपने दल के दर्षश्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही अपने क्षेत्र के मतदाताओं की नब्ज को पहचानता है। एक व्यक्ति के नाते उसे अपने मतदाताओं के प्रति वफादार होना चाहिए और एक दल का सदस्य होने के नाते, जिस दृष्टिकोण का वह प्रतिनिधित्व करता है, उस दल के अनुशासन का पालन करने के साथ उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मन में समर्पण का भाव भी रखना चाहिए।

(ख) अच्छा दल : लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की बहुत निर्णायक भूमिका होती है। कोई समाज कितना लोकतांत्रिक है यह उसके दलों का चरित्र देखकर जाना जा सकता है। उपाध्याय के अनुसार श्रेष्ठ दल के लक्षण हैं, ''...जो सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों का झुंड न होकर एक जीवमान संगठन हो, जिसका सत्ता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना अलग वैशिष्ट्य हो। ऐसे दल की दृष्टि में सत्ता पर अधिकार करना उद्दिष्ट न होकर, अपने सिद्धांतों एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का एक साधन होगा, और इसलिए उस दल के

सर्वोच्च पदाधिकारियों से लेकर साधारण से साधारण सदस्य तक में अपने इस आदर्शवाद के प्रति एक निष्ठा होगी। हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह निष्ठा ही अनुशासन और आत्मसमर्पण की भावना उत्पन्न करती हे। यदि अनुशासन ऊपर से थोपा जाता है तो वह किसी भी दल की आंतरिक शक्तिहीनता को ही प्रकट करता है।''

दीनदयाल उपाध्याय दुःखपूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि भारत के राजनीतिक दल केवल नाम के लिए ही दल हैं। दलों की आंतरिक शक्तिहीनता उन्हें समाज की अवांछनीय शक्तियों का अवलंब ग्रहण करने को मजबूर करती है। उपाध्याय मुख्यतः तीन मजबूरियों का उल्लेख करते हैं : (1) राजा–महाराजा, (2) जातिवाद तथा (3) उद्योगपति।

(ग) अच्छा मतदान : उपाध्याय की यह आस्था है कि मतदाता की बुद्धिमत्ता ही इसका इलाज है, ''ये सब ऐसे तथ्य हैं कि जो देश की राजनीति को गलत दिशा में ले जा रहे हैं। . ..राजनीतिक दलों को, जो देश की राजनीति में प्रमुख दल के रूप में विकसित होना चाहते हैं, इन खतरों से सचेत रहकर अपने सिद्धांत की हत्या नहीं करनी चाहिए। इसी भाँति जनता का यह कर्तव्य है कि वह जागरूक रहकर बुद्धिमत्ता के साथ हंस के समान अपने नीर–क्षीर–विवेक का परिचय दे जिससे देश के राजनीतिक दलों के गलत दृष्टिकोण को सुधारा जा सके।'' इस हेतु उपाध्याय मतदाता को निम्न बातें स्मरण रखने का आग्रह करते हैं–

(1) ''..अपने मताधिकार का प्रयोग पार्टी के लिए न कर सिद्धांत के लिए, व्यक्ति के लिए न कर पार्टी के लिए और धन के लिए न कर व्यक्ति के लिए (करना) है।''

(2) ''..प्रचार के शिकार होकर किसी भी व्यक्ति को केवल इस आधार पर ही अपना मत दे आते हैं कि वह विजयी होने वाला है तो चुनाव परिणाम कुछ भी हो, वह आपकी हार ही कही जाएगी।''

(3) ''मतदान का अधिकार आपके सद्विचार और आपके सद्विवेक की कसौटी है। अतः उस ओर से उदासीन न हों, उसे बेचें नहीं और न उसे नष्ट होने दें।''

(4) ''मतदान का अधिकार प्रत्येक नागरिक की स्वाधीनता का प्रतीक है और इस कारण एक लोकतंत्रवादी होने से आपको इसका उपयोग किसी के निर्देश पर न कर, स्वयं के सद्विवेक एवं आत्मा की पुकार पर करना चाहिए।''

(5) ''...जनता को पुनः–पुनः यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि वह ही राजनीतिक दलों की निर्माता है।''

दीनदयाल उपाध्याय एक राजनीतिक दल के महामंत्री थे; लेकिन उनके उपुर्यक्त विचार, दलवाद से ऊपर उठकर एक शुद्ध लोकतंत्रवादी के नाते व्यक्त किए गए विचार हैं। भारत का बहुत चरित्र अपनी राष्ट्रीय एकता को तभी बनाए रख सकता है जब देश में लोकतंत्र रहे। उनके राश्ट्रवाद ने ही उन्हें प्रखर लोकतंत्रवादी बनाया था।

4. राष्ट्रीय एकता के लिए प्रजातंत्र आवश्यक : उनका मत था कि ''भारत की परिस्थिति में प्रजातंत्र का राष्ट्रीय एकता से गहरा संबंध है। यदि यहाँ प्रजातंत्र समाप्त हो गया

तो एकता को भी नष्ट होते देर न लगेगी ... (विघटनकारी तत्त्वों में से भी) .... तो प्रजातंत्रीय पद्धति का अनुसरण करेंगे वे शनैः–शनैः राष्ट्रवाद की ओर बढ़ते जाएँगे। चुनावों में जातिवाद व क्षेत्रवाद का सहारा लेने वाले भी जब जीतकर आएँगे तो सबको साथ लिए बिना अकेले नहीं बैठ सकेंगे। यही कारण है कि द्रविड़ मुन्नेत्र कशगम के रूप में धीरे धीरे परिवर्तन हो रहा है। प्रजातंत्र के रहते हुए किसी प्रांत विशेष में किसी दल विशेष का प्रभुत्व भी आ गया तो वह अलग नहीं हो सकता; किंतु यदि प्रजातंत्र समाप्त हुआ तो एकता पहले समाप्त हो जाएगी। ...भारत की एकता के लिए प्रजातंत्र जरूरी है।''

5. संयुक्त मोर्चे : सत्ता प्राप्ति के लिए लोकतंत्र का अवसरवादी उपयोग हमारे प्रजातंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती है। इसके लिए सावधान करते हुए उपाध्याय कहते हैं, ''संयुक्त मोर्चे'' भी अपने देश में बनाए जाते रहे हैं, जिन समझौतों व संयुक्त मोर्चों का आधार यही रहा काता है कि विभिन्न राजनीतिक दल पृथक–पृथक रूप से लड़कर सत्तारूढ़ दल को पराजित न कर सकेंगे, और इसलिए सभी को मिलकर कांग्रेस के विरूद्ध एक प्रत्याशी खड़ा करना चाहिए। . ..... ये समझौते और संयुक्त मोर्चे जनता में निषेधात्मक वृत्ति पैदा करते हैं जो कभी भी उचित नहीं है। ऐसे समझौते करने वाले तत्त्व संयुक्त मोर्चे बनाते समय सिद्धांतों में भी सौदेबाजी करते हैं जिससे देश में अवसरवादी तत्त्वों को प्रश्रय मिलता है।''

दीनदयाल उपाध्याय का लोकतंत्र विषयक विचार लोकतंत्र की पाश्चात्य व भारतीय अवधारणा से प्रारंभ होकर उसके भारतीयकरण अर्थात् 'लोकमत–परिष्कार' की विवेचना करते हुए भारतीय लोकतंत्र के विश्लेषण के साथ पूर्ण होता है। उपाध्याय का चिंतन आदर्शवादी है। वे अपने विचारों में समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से ज्यादा नीतिशास्त्र से प्रभावित हैं। किसी दल को नीतिशास्त्रीय नेता उपलब्ध होना बड़े सौभाग्य की बात होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो आदर्श का आचरण करता है वही 'नीतिशास्त्र' की महत्ता को भी सिद्ध कर पाता है। समझौतावादी लोग आदर्श व नीति को तात्कालिक परिणामों के भय से त्याग देते हैं। उनकी व्यवहार नीति के नाम पर अवसरवाद पनपता है। जिस 'अवसरवाद' के बारे में दीनदयाल उपाध्याय ने चेताया था, उसका जब भयानक दौर भारत में प्रारंभ हुआ, उसी दौर में उनकी हत्या हो गई। भारतीय लोकतंत्र की यह बड़ी क्षति थी।

सन्दर्भ

1. डा० हरिशचंद्र बर्थवाल, ''*पंडित दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्तित्व एवं जीवनदर्शन*''; दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली।
2. अमरजीत सिंह, ''*एकात्म मानववाद के प्रणेता दीनदयाल उपाध्याय*'', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 2016
3. डा० कौशल किशोर मिश्रा एवं डा० शिवाली अग्रवाल *''भारतीय राजनीति में पं० दीनदयाल उपाध्याय और भारतीय जनता पार्टी का योगदान''*, अनु बुक्स मेरठ, 2018
4. *पं० दीनदयाल : महाप्रस्थान, विचार, दर्शन,* नई दिल्ली, 1992

5. मनोज खोसला, *'युगपुरूष'*, राज पब्लिकेशन, 2014
6. डा० कौशल किशोर मिश्रा एवं डा० शिवाली अग्रवाल *''डा० भीमराव अम्बेडकर व दीनदयाल उपाध्याय, तुलनात्मक अध्ययन''*, अनु बुक्स, 2018
7. डॉ० संजीव शर्मा, *'अखण्ड भारत पुस्तक माला'*, अनु बुक्स, 2018